Original Article
ISSN (Online): 2582-7472

ShodhKosh: Journal of Visual and Performing Arts
July-December 2023 4(2), 2051–2061

PHILOSOPHY OF THE TRANSCENDENTAL TRUTH (DISTINCTIVE VIEW OF ADVAITA VEDANTA)

पारमार्थिक सत् विषयक तत्त्वचिन्तन (अद्वैतवेदान्त की विशिष्ट दृष्टि)

Ishvar Singh Shekhawat [1]

[1] Independent Researcher, University Topper (Gold Medalist), Former Researcher, University of Rajasthan, Jaipur Department of Science and Technology, Government of India, Under DST-SHRI Project, Banasthali Vidyapeeth, Banasthali, Tonk, Rajasthan

ABSTRACT

English: Under the contemplation of the true nature of the Self, differences appear before us. All those differences are resolved by the Upanishads; He comes forward and tries to reconcile all the differences by teaching the path of the Brahma Sutras. In the deep contemplative tradition of Indian philosophy, thoughts are constantly presented on the seeds of thinking about the transcendental principle, which is tried to be known at various places by the name of Brahma. All those ideas are clarified in Advaita Vedanta. There the doubts in everyone's thoughts are clarified that the state of 'Sarvam Khalvidam Brahma' is the real one That is present before all of us after the continuous penance of life. Vedantic sages told this based on their actual experience that man can know this only by experiencing it himself. This cannot be told based on mere thoughts.

Hindi: आत्मतत्व के यथार्थ स्वरूप विषयक चिन्तन के अन्तर्गत विभिन्न मतभेद हमारे सम्मुख उपस्थित होते है । उन सभी मतभेदों का निराकरण करते है उपनिषद्; वही आगे आकर ब्रह्मसूत्रों का मार्ग उपदिष्ट कर सभी के मतभेदों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करते है । भारतीय दर्शन की गहन चिन्तन परम्परा में पारमार्थिक तत्व चिन्तन के बीज, जिसे विभिन्न स्थानों पर ब्रह्म रूप संज्ञा से जानने का प्रयत्न किया जाता है पर निरन्तर विचार प्रस्तुत किया जाता है । उन सभी विचारों की स्पष्टता अद्वैतवेदान्त में होती है । वहां सभी के विचारों के संशय स्पष्ट होते है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की जो स्थिति है वही वास्तविक है जो कि जीवन की अनवरत तपस्या के अनन्तर हम सभी के समक्ष उपस्थित होती है । वैदान्तिक ऋषियों ने इसे अपनी वास्तविक अनुभव के आधार पर बताया कि यह मनुष्य स्वयं अनुभूत करके ही जान सकता है । केवल विचारों के आधार पर इसे नहीं बताया जा सकता ।

DOI
10.29121/shodhkosh.v4.i2.2023.3245

Funding: This research received no specific grant from any funding agency in the public, commercial, or not-for-profit sectors.

Copyright: © 2023 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License.

With the license CC-BY, authors retain the copyright, allowing anyone to download, reuse, re-print, modify, distribute, and/or copy their contribution. The work must be properly attributed to its author.

OPEN ACCESS

Keywords: Contemplation of the True Nature, Eternal, Upanishads, Soul, Naturally Proven, Unique Elements, Indian Philosophy, Advaita Vedanta, Self-Illumination, Infinite, Immense, Changeable, As it is, We Will All Definitely Stay, Governs the Entire World, The Originator, The Master, The Omnipresent, The Soul of all Beings, The Presiding Deity of All Actions, The Resident of All Beings, The Witness of All, The Giver of Consciousness to All, Pure, सत्य स्वरूप का चिंतन, शाश्वत, उपनिषद, आत्मा, स्वाभाविक रूप से सिद्ध, अद्वितीय तत्व, भारतीय दर्शन, अद्वैत वेदांत, स्वयंप्रकाश, अनंत, विशाल, परिवर्तनशील, ज्यों का त्यों, हम सब निश्चित रूप से रहेंगे, संपूर्ण विश्व को संचालित करते हैं, उत्पत्तिकर्ता, स्वामी, सर्वव्यापी, सभी प्राणियों की आत्मा, सभी कार्यों के अधिष्ठाता, सभी प्राणियों के निवासी, सभी के साक्षी, सभी को चेतना देने वाले, शुद्ध

1. प्रस्तावना

नित्य (सत्) –

यदि शंका होती है कि ब्रह्म नित्य (सत्) है अथवा नहीं; ऐसी शंका होने पर कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विषय जो वस्तु, उनके ज्ञानों के समान ब्रह्मविद्या भी वस्तुतन्त्र (अधीन) है । इस प्रकार के ब्रह्म और उसके ज्ञान को किसी भी युक्ति से कार्य के सम्बन्ध की कल्पना नही हो सकती है । ज्ञानक्रिया के कर्म रूप से भी ब्रह्म का किसी कार्य के साथ संबंध नही हो सकता है, ज्ञान का भी कर्म नहीं हो सकता क्योंकि 'वह ब्रह्म विदित और अविदित से अन्य है' अर्थात् व्याकृत् नामरूप और अव्याकृत प्रकृति से अन्य स्वयं प्रकाश है , इससे ज्ञान क्रिया की कर्मता का निषेध होता है । इसी प्रकार श्रुति कहती है कि जिस आत्म प्रकाश से लोग सब दृश्य वस्तु को जानते है, उसे किस साधन से जानेंगे। इससे भी ज्ञान क्रिया की कर्मता का निषेध ही किया गया है । इसी प्रकार उपासना क्रिया की कर्मता का ब्रह्म में निषेध है, जो ब्रह्म वाक् इन्द्रिय से अभ्युदित(प्रकाशित) नही होता और जिस ब्रह्म से वाक् प्रकाशित प्रेरित होती है । इस प्रकार ब्रह्म को इन्द्रियों की अविषयता का कथन करके कहा गया है कि उसी अविषय स्वरूप ब्रह्म को तुम समझो, ये जो इन्द्रियों के विषय पदार्थ प्रसिद्ध है, जिनकी उपासना की जाती है, उसे ब्रह्म नही समझो क्योंकि जिनकी उपासना की जाती है वे ब्रह्म नहीं हैं –

तथा च शास्त्रम् - "यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्"[1]

"न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः''न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः"[2] इति ।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे गता तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।ईश.उ.५।।

वह आत्मतत्त्व चलता है, वही स्वयं नही भी चलता अर्थात् स्वयं अचल रहकर भी चलता हुआ सा जान पड़ता है । यही नहीं, वह दूर भी है; अज्ञानियों को सैकड़ो करोड़ वर्षों में भी अप्राप्य होने के कारण दूर जैसा है । वही अन्तिक अत्यन्त समीप भी है अर्थात् केवल दूर ही नहीं, विद्वानों का आत्मा होने कारण समीप भी है । वह इस सब (संसार) के अन्तर यानी भीतर भी है जो कि 'य आत्मा सर्वान्तरः'[3] (जो आत्मा सर्वान्तर है) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है । आकाश के समान व्यापक होने के कारण वह इस नामरूप और क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत् के बाहर तथा सूक्ष्मरूप होने के कारण इसके भीतर भी है अथवा वह परब्रह्म परमेश्वर चलता है अर्थात् संसार रूप में विस्तृत होकर वह गमनशील बन जाता है । उसी का अंश जीवात्मा बार-बार कर्मानुसार नये-नये शरीरों में प्रविष्ट होता है अतः परमात्मा का चलना सिद्ध होता है । वह नहीं भी चलता है अर्थात् वह स्वयं अचल रहकर भी चलता सा जान पड़ता है । परमात्मा का संकोचन तथा विस्तार होना ही उसकी स्थिरता और गतिशीलता है । सगुण ब्रह्म भक्तजनों की पुकार सुनकर दौड़े चले आते है, यह भी उसकी गतिशीलता का प्रमाण है । वह परमेश्वर नहीं चलता है अर्थात् स्थिर रहता है । जब सृष्टि की इच्छा होती है तो वह अपने को विस्तृत कर लेता है और जब इच्छा समाप्त हो जाती है तो आत्मरूप में स्थित हो जाता है अतः उसे न चलने वाला भी कहा गया है । इसी प्रकार वह अत्यन्त दूर है तथा अत्यन्त समीप भी है । वह अत्यन्त दूर है क्योंकि मन-बुद्धि आदि भी उसके स्वरूप को नहीं जान सकते है उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता है और वह ही परमात्मा भक्ति के वशीभूत होकर समीप आ जाता है । अतः इस परमेश्वर में विरोधी भाव अवश्य दिखाई देते हैं परन्तु यह वास्तविकता नहीं है । वह ब्रह्म तो एक ही हैं तथा नित्य, शुद्ध, सत्, चिद्रूप हैं; अर्थात् जो योगीजनों के ध्यान में अतिकठिनता से आता है वह ही परमेश्वर जीवात्मा रूप के कण-कण में विद्यमान है अतः यह सिद्ध हो जाता है कि वह अत्यन्त समीप भी रहता है और अत्यन्त दूर भी । जीवात्मा रूप में वह चींटीं से लेकर हाथी तक में उसके अन्दर विद्यमान है और वह परमेश्वर भीतर तथा बाहर दोनों रूपों में विद्यमान रहता है –

[1] (केन.2-3)

[2] (बृ.3-4-2)

[3] (बृ.उ.3-4-1)

"अस्य सर्वस्य जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवन्निरतिशयसूक्ष्मत्वाद् अन्तः।"[4]

वह प्रज्ञानघन ही है अर्थात् वह निरन्तर बाहर-भीतर के भेद को त्यागकर सर्वत्र ही है –

'प्रज्ञानघन एव'[5]

वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है । वह ही एक नित्य सत् रूप विद्यमान रहता है ।

वाक्यभाष्य - 'न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिष्यति साधनैः । स्वभावसिद्धश्चात्मा तथा न आपिपयिषितः आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात् ।'[6]

आत्मा नित्य है अतएव स्वभावतः सिद्ध है फलतः उसे साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं करना चाहिए । लोक में भी देखा गया है कि कोई भी व्यक्ति स्वभावतः सिद्ध वस्तु को साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं करता है । यह आत्मा चूँकि स्वभावतः सिद्ध है अतएव यह किसी के भी द्वारा प्राप्त करने के लिए वांछित नहीं है, क्योंकि आत्मा होनें के साथ-साथ नित्य ही प्राप्त है । जो वस्तु अप्राप्त होती है उसे ही प्राप्त करने की इच्छा की जाती है । आत्मा को विकृत करना भी किसी को अभिप्रेत नहीं हैं, क्योंकि यह आत्मा होते हुए नित्य है, अनित्य पदार्थ को ही विकृत किया जा सकता है । वह स्वभावतः विकार रहित है । वह अविषय भी है । कोई भी विकार मूर्त पदार्थ में ही लाया जा सकता है । आत्मा को अविकार्य बतलाते हुए स्मार्त वाक्य कहते हैं –

" न वर्धते कर्मणा ।"[7]

अर्थात् कर्म के द्वारा आत्मा में किसी भी प्रकार की वृद्धि नहीं होती है और न तो उसको किसी कर्म के द्वारा ह्रास ही होता है । गीता में भी कहा गया है –

"अविकार्योऽयमुच्यते ।"[8] अर्थात् यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है इसको किसी भी प्रकार से विकृत नहीं किया जा सकता है ।

'न च संचिकीर्षितः"शुद्धमपापविद्धम्"[9] इत्यादिश्रुतिभ्यः।

आत्मा का किसी प्रकार से संस्कार करना अभिप्रेत नहीं है । श्रुति बतलाती है कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध है । इससे पापो का संश्लेष होता ही नहीं है । संस्कार तो उस पदार्थ का किया जाता है जिसमें कोई अशुद्धि हो । आत्मा में अशुद्धि का कोई प्रसंग नहीं है । आत्मा सभी के लिए अनन्य है । अन्य संस्कर्त्ता ही अपने से अन्य का संस्कार करता है । अपना ही कोई संस्कार नहीं करता है । आत्मा से भिन्न कोई क्रिया भी नहीं होती है यह कभी संभव नहीं हैं कि स्वयं आत्मा अपना संस्कार स्वयं करे ।

चेतन रूप से प्रतीत होने वाले जो श्रोत्रादि है, उनसे भिन्न कोई ऐसा तत्व है, जिसे ज्ञानी पुरूष ही जान सकते है । सभी की अपेक्षा अन्तरंग रहकर जो सभी के भीतर विद्यमान है, जो कुटस्थ है, जिसमें कभी भी कोई भी विकार नहीं आता है; जो अज है अर्थात् जिसमें अस्ति, जायते, वर्धते, परिणमति, अपक्षीयते तथा विनश्यति इन षड् उर्मियों का अत्यन्ताभाव है; जो अजर है अर्थात् वार्धक्य आदि विकारों से ग्रस्त नहीं होता; जो अमृत अर्थात् नित्य है, तथा अभय अर्थात् अद्वितीय तत्त्व है; उसी तत्त्व के सामर्थ्य से श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयाभासकत्व रूपी श्रोत्रत्व सुरक्षित रहता है । उनके श्रोत्रत्व आदि का निमित्त कारण वही चेतनस्वरूप ब्रह्म तत्त्व है । वही सर्व अधिष्ठान रूप पारमार्थिक सत् है ।

---

[4] (ईशावास्योपनिषद् शाङ्करभाष्य 5)

[5] (बृ.उ.4-5-13)

[6] (केनोपनिषद् भाष्य 1/1)

[7] (बृ.उ.4/4/23)

[8] (श्रीमद्भगवद्गीता 2/25)

[9] (ई.उ.भा.8)

सभी का निमित्त : जिस तरह से आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियों का नियामक है, उसी तरह से मन जो अन्तःकरण है उसका भी निमित्त कारण आत्मा ही है । वागादि इन्द्रियों के भी अपने कार्यों में प्रवृत होने का निमित्तकारण आत्मा ही है । आत्मा से संबंध के बिना इन्द्रियाँ भी वाग्व्यवहारादि कार्यों में प्रवृत नहीं होती है । आत्मा ही प्राण का भी प्रेरक तत्त्व है। आत्मा से ही प्रेरित होकर प्राण प्राणन क्रिया को किया करता रहता है । जिसके द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियसमूह स्व-स्व व्यापार में व्यापृत होता है, वही ब्रह्म है । जिस सम्पूर्ण इन्द्रियों के नियामक ब्रह्म को सम्पूर्ण श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किए जाने वाले शब्दादि के ज्ञान का कारण बतलाया गया है, श्रुति जिसे श्रोत्र का भी श्रोत्र बतलातीं है, जो परब्रह्म सर्वदा उपलब्धि स्वरूप रहता है तथा जो सम्पूर्ण विशेषणों से रहित होने के कारण निर्विशेष है, उसे ही आत्मा (ब्रह्म) कहा जाता है । वह आत्मा (ब्रह्म) ही जगत् का अधिष्ठान है । उसमें ही सम्पूर्ण बुद्धि आदि संसार अध्यारोपित है।

आत्मा विज्ञानरूप है । उसमें सभी प्रकार की विशेषताओं का अभाव है । चूँकि वह आत्मा है अतएव वह न तो हेय है और न तो उपादेय है; क्योंकि दूसरे के लिए ही दूसरी वस्तु हेय अथवा उपादेय होती है । स्वयं ही कोई वस्तु अपने आपके लिए हेय अथवा उपादेय तो होती नहीं है । आत्मा ही ब्रह्म है वह ही सभी की अन्तरात्मा है । वह किसी का विषय नहीं होता है अतएव वह किसी अन्य के लिए भी हेय अथवा उपादेय नहीं है ; क्योंकि सभी की वह अन्तरात्मा है। सभी उसी के आश्रित है अतएव उसके लिए कोई भी दूसरा नहीं है तथा उससे अतिरिक्त भी दूसरा कुछ नहीं है वह ही एक परम तत्त्व विद्यमान है ।

सभी का प्रकाशक : 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।[10]

उस परब्रह्म में सूर्य नही भासते है अर्थात् उस परब्रह्म को प्रकाशित नही करते है, इस प्रकार चन्द्र, तारा, विद्युत्, जिसको प्रकाशित नही कर सकते, उसे यह अग्नि कैसे प्रकाशित कर सकती है, उस परब्रह्म के दीप्त (प्रकाशित) होने पर ही सब प्रकाशित होते हैं, क्योंकि उसी के प्रकाश से यह सब जगत् भासता है ।

'आत्मन्नैवायं ज्योतिषास्ते'[11]

'अगृह्यो नहि गृह्यते'[12] इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अर्थात् स्वयंप्रकाश ज्योतिस्वरूप होने से ब्रह्म अन्य ज्योति से उपलब्ध नहीं होता है कि जिससे सूर्यादि उसमें भासित हो प्रकाश करें । ब्रह्म अन्य को अभिव्यक्त करता है, ब्रह्म अन्य से अभिव्यक्त नहीं होता है ; यह अर्थ (यह) आत्मा आत्मज्योति से रहता है) अग्राह्य है अर्थात् किसी से गृहीत नहीं होता है अर्थात् यह स्वयंसिद्ध है इत्यादि श्रुतिवचन से सिद्ध होता है ।

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।'[13]

'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।'[14]

अन्य से अप्रकाश्यत्व स्वयंप्रकाशत्व आत्मा (ब्रह्म) ही है ; ऐसा भगवद्गीता में स्मरण एवं वर्णन किया गया है कि उसको सूर्य प्रकाश नही करते है , चन्द्र और अग्नि भी प्रकाशित नहीं करते है, जिसे प्राप्त करके जीव संसार में नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम (तेजोमय स्वरूप)

[10] (मु.उ.2-2-10)

[11] (बृ.उ. 4-3-6)

[12] (बृ.उ. 4-2-4)

[13] (गी.14-6)

[14] (गी.14-12)

है । सूर्यगत जो तेज सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशता है, और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में है, उन्हें मेरा तेज जानों, आत्मचैतन्यरूप सब तेजो को समझो ।

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषो ज्योतिरिवाधूमथः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व ।। एतद्वै तत् ।।[15]

धूमरहित निर्मल प्रकाशरूप ज्योति के समान अङ्गुष्ठपरिमाण पुरूष (आत्मा) है वह भूतभावी का स्वामी (नियन्ता) है, वही आज प्राणियों में वर्तमान है, और वही आगे रहेगा । इस प्रकार वह परमतेजमय ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् स्वरूप है ।

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ये तदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा'[16]

आकाश नाम रूप को धारण करने वाला है और वे नामरूप जिसके अन्तर्गत है, वह ब्रह्म है, अमृत, आत्मा है ।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'[17]

यह जो नाम, रूप और कर्म के भेद से विविधरूप प्रतीत होने वाला जगत् कहा गया है वह संसार की सृष्टि से पूर्व सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् क्षुधा-पिपासा आदि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मों से रहित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयरूप आत्मा ही था -

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्'[18]

यहाँ पर यदि कोई शंका करता है कि क्या इस समय एकमात्र वही नहीं है ? यदि वही है तो फिर 'आसीत्' ऐसा क्यों कहा गया है ? तो इसका समाधान यह है कि यद्यपि इस समय भी अकेला वही है लेकिन कुछ विशेषता अवश्य है । वह विशेषता यही है कि उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् नाम-रूपादि भेद के व्यक्त न होने के कारण आत्मभूत और एक 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का ही विषय था और इस नाम-रूपादि भेद के व्यक्त हो जाने से वह अनेक शब्दों की प्रतीति का विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्द की प्रतीति का विषय भी हो रहा है ; जिस जल से पृथक् फेन के नाम और रूप की अभिव्यक्ति होने से पूर्व फेन एकमात्र 'जल' शब्द की प्रतीति का ही विषय था ; किन्तु जिस समय वह जल से अलग नाम और रूप के भेद से व्यक्त हो जाता है उस समय वह फेन 'जल' और 'फेन' इस प्रकार अनेक शब्दो की प्रतीति का विषय तथा केवल 'जल' इस एक शब्द की प्रतीति का विषय भी हो जाता है उसी प्रकार उपर्युक्त भेद भी समझना चाहिए ।

यह परब्रह्म महा सत्यस्वरूप अनन्त अपार निरन्तर विज्ञान स्वरूप है –

'इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव'[19]

ब्रह्म ही सब प्राणियों का सत्यात्मा स्वरूप है, इससे भी ब्रह्म की सत्ता प्रसिद्ध है –

"सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्त्वप्रसिद्धिः"।[20]

क्योंकि सभी प्राणी आत्म सत्ता को जानते है और सबको अपनी सत्ता में विश्वास है । यदि आत्मसत्ता की प्रसिद्धि (ज्ञान) सबको नही होती, तो सब लोग 'मै नही हूँ' ऐसा समझते अर्थात् 'मैं नही हूँ' ऐसा ज्ञान सबको होता ; और जिस आत्मा को सब लोग 'मैं' इस प्रकार देहादि में अविवेकपूर्वक जानते है, वही विविक्त साक्षात्स्वरूप आत्मा ब्रह्म है , यही 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ दर्शाती है ।

यह सब ब्रह्म ही है : यह सब आत्मा ही है । वह यह ब्रह्म कारण-कार्य रहित और अन्तर बाहर भेद रहित है –

[15] (क.उ.2-1-13)

[16] (छा.उ.6-14-1)

[17] (छा.उ. 6-2-1)

[18] (ऐ.उ.1-1-1)

[19] (बृ.उ.2-4-12)

[20] (ब्र.सू.शा.भा.1-1-1)

'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्'[21],

'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्'[22] ।

यह नित्य है, सर्वगत है स्थाणु-स्थिर-अचल और सनातन (अनादि) है –

'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'[23] ।

एक ही अद्वितीय ब्रह्म है –

'एकमेवाद्वितीयम्'[24]

ब्रह्म ही सत्य है –

'सत्यं ब्रह्म'[25]

वह एक सब भूतों में गूढ़-छिपा है, सर्वव्यापी, सब भूत का अन्तरात्मा है –

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'[26]

यह सब जगत् इस ब्रह्म का स्वरूप है –

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'[27]

वह निर्माता ही स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उसके आश्रित सब लोक है । उसका उल्लंघन कोई नही करता है । शब्द, स्पर्श , रूपरहित निर्विकार नित्य ब्रह्म है –

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'[28] ।

जिससे ब्रह्म से लेकर स्तम्बपर्यन्त ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते है , जिसके आश्रयस्वरूप से ये जन्म लेने के अनन्तर जीवित रहते – प्राण धारण करते अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते है तथा विनाशकाल उपस्थित होने पर जिसके प्रति प्रयाण करने वाले अर्थात् जिस ब्रह्म के प्रति गमन करने वाले वे जीव उसमें प्रवेश करते – उसके तादात्म्यभाव को प्राप्त हो जाते है ; अर्थात् तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और लयकाल में प्राणी जिसकी तद्रूपता का त्याग नही करते यही उस ब्रह्म का लक्षण है ।

वह ब्रह्म ही एक है उसके सिवा दूसरा कोई नही है –

'न तु तद् द्वितीयमस्ति'[29]

एक ही सद् वस्तु है, यहाँ नाना कुछ भी नही है –

[21] (छा.उ.7-25-2)

[22] (बृ.उ.2-5-19)

[23] (भ.गी.2-25)

[24] (छा.उ.6-2-1)

[25] (बृ.उ.5-3-1)

[26] (श्वे.उ.6-11)

[27] (छा.उ.6-8-7)

[28] (क.उ.3-1-5)

[29] (ब्र.उ. 4-3-23)

'एकमेव सत्' , 'नेह नानास्ति किञ्चन'[30] ।

भोक्ता , भोग्य और प्रेरक मानकर जिसे तीन प्रकार का कहा गया है वह सब ब्रह्म ही है , सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही कहा गया है –

'भोक्ता भोग्यं प्ररितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्'[31] ।

वह एकरूप है : इसलिए उसे एकरूप ही देखना चाहिए –

'एकधैवानुद्रष्टव्यमिति'[32] ।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है –

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।'[33]

अर्थात् लोगो की दृष्टि से मैनें जब तक अवतार नही लिया था , तब तक मैं कृष्णरूप से सबके सामने प्रकट नही हुआ था , तब तक तू भी अर्जुन रूप में सबके सामने प्रकट नही था तथा इन राजाओं का भी जब तक जन्म नही हुआ था तब तक ये भी इस रूप से सबके सामने प्रकट नही थे । परन्तु मैं, तु और ये राजा लोग इस रूप से प्रकट न होने पर भी पहले नही थे-ऐसी बात नही है ।

यहाँ 'मैं, तू और ये राजा लोग पहले थे' ऐसा कहने से ही काम चल सकता था, पर ऐसा न कहकर 'मैं, तू और ये राजा लोग पहले नहीं थे, ऐसी बात नहीं ' ऐसा कहा है ; इसका कारण यह है कि 'पहले नहीं थे , ऐसी बात नहीं' ऐसा कहने से 'पहले हम सब जरूर थे' यह बात दृढ़ हो जाती है । तात्पर्य यह हुआ कि नित्य तत्त्व सदा नित्य ही है । इसका कभी अभाव था ही नहीं । भूत, भविष्य और वर्तमान काल में तथा किसी भी देश , परिस्थिति , अवस्था , घटना, वस्तु आदि में नित्यतत्त्व का किञ्चिन्मात्र भी अभाव नहीं हो सकता । भविष्य में शरीरों की ये अवस्थाएँ नहीं रहेंगी और एक दिन ये शरीर भी नही रहेंगे ; परन्तु ऐसी अवस्था में भी हम सब नहीं रहेंगे – यह बात नहीं है अर्थात् हम सब जरूर रहेंगे । कारण कि नित्य तत्त्व का कभी अभाव था ही नहीं और होगा भी नहीं ।

अभावरहित : 'नाभावो विद्यते सत्'[34]

अर्थात् जो सत् वस्तु है, उसका अभाव नहीं होता अर्थात् जब देह उत्पन्न नहीं हुआ था , तब भी देही था , देह नष्ट होने पर भी देही रहेगा और वर्तमान में देह के परिवर्तनशील होने पर भी देही उसमें ज्यों का त्यों ही रहता है । इसी रीति से जब संसार उत्पन्न नहीं हुआ था , उस समय भी परमतत्त्व था, संसार का अभाव होने पर भी परमात्मतत्त्व रहेगा और वर्तमान में संसार के परिवर्तनशील होने पर भी परमात्मतत्त्व उसमें ज्यों का त्यों ही है ।

संसार को हम एक ही बार देख सकते है, दूसरी बार नहीं । कारण कि संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है; अतः एक क्षण पहले वस्तु जैसी थी, दूसरे क्षण में वह वैसी नही रहती जैसे- सिनेमा देखते समय परदे पर दृश्य स्थिर दिखता है ; पर वास्तव उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है । मशीन पर फिल्म तेजी से घूमने के कारण वह परिवर्तन इतनी तेजी से होता है कि उसे हमारी आँखें पकड़ नहीं पाती है । इससे भी अधिक मार्मिक बात यह है कि वास्तव में संसार एक बार भी नहीं दिखता है ।कारण कि शरीर , इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि जिन करणों से हम संसार को देखते है, अनुभव करते है, वे करण भी संसार के ही है । अतः वास्तव में संसार से ही संसार दिखता है । जो शरीर संसार से

[30] (बृ.उ. 4-4-19)

[31] (श्वे.उ. 1-12)

[32] (बृ.उ. 4-4-20)

[33] (श्रीमद्.गी. 2-12)

[34] (गी.2-16)

सर्वदा रहित है, उस स्वरूप (ब्रह्म) से संसार कभी नहीं दिखता है तात्पर्य यह है कि स्वरूप (ब्रह्म) से संसार की प्रतीति नहीं है । संसार के संबंध से ही संसार की प्रतीति होती है । इससे सिद्ध होता है कि स्वरूप (ब्रह्म) का संसार से कोई संबंध है ही नहीं ।

संसार (शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि) की सहायता के बिना चेतन स्वरूप कुछ कर ही नहीं सकता । इससे सिद्ध हुआ कि मात्र क्रिया संसार में ही है, स्वरूप में नहीं । स्वरूप का क्रिया से कोई संबंध है ही नहीं । संसार का स्वरूप है – क्रिया और पदार्थ । जब स्वरूप का न तो क्रिया से और पदार्थ से ही की संबंध है तब यह सिद्ध हो गया कि शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धि सहित सम्पूर्ण संसार का अभाव है । केवल परमात्मतत्त्व कि ही सत्ता है, जो निर्लिप्त रूप से सबका प्रकाशक और आधार है ।

2. विनाश रहित

'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति'[35]

अर्थात् इस अविनाशी का कोई विनाश भी नहीं कर सकता है, वह नित्य निरन्तर रहनेवाला है ।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।"[36]

जैसे शरीर उत्पन्न होता है, ऐसे आत्मा कभी भी , किसी भी समय में उत्पन्न नही होता । यह तो हमेशा से ही है । यह शरीरी कभी मरता नहीं। मरता वही है जो पैदा होता है । पिण्ड – प्राण का वियोग शरीर में ही होता है । परन्तु शरीरी में संयोग-वियोग दोनो ही नही होते । वह ज्यों का त्यों रहता है । इसका मरना होता ही नही है । यह स्वतः सिद्ध निर्विकार है ; क्योंकि इस अविकारी सत्ता का आरम्भ और अन्त नहीं होता है । यह शरीरी जन्म रहित है । यह शरीरी नित्य-निरन्तर रहने वाला है , अतः इसका कभी अपक्षय नही होता । अपक्षय तो अनित्य वस्तु में होता है , जो कि निरन्तर रहने वाली नही है । जैसे ; आधी उम्र बीतने पर शरीर घटने लगता है , बल क्षीण होने लगता है , इन्द्रियों कि शक्ति कम होने लगती है । इस प्रकार शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि का तो अपक्षय होता है , पर शरीरी का अपक्षय कभी नही होता । इस नित्य तत्त्व में कभी किञ्चिन्मात्र भी कमी नही आती है । यह नित्य तत्त्व निरन्तर एकरूप , एकरस रहनेवाला है । इसमें अवस्था का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् यह कभी बदलता नहीं है । यह अविनाशी तत्त्व पुरातन और अनादि है । शरीर का नाश होने पर भी इस अविनाशी शरीरी का कभी नाश नही होता । वह निरन्तर नित्य सद्रूप रहता है ।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयमं सनातनः ।।'[37]

शस्त्र इस शरीरी का छेदन नही कर सकते , देही सर्वथा अछेद्य है , यह देही सर्वदा अदाह्य है, यह देही गीला होने योग्य नही है , यह देही अशोष्य अर्थात् वायु से , मंत्र, शाप, औषधि आदि से यह देही सुख नही सकता है । इसमें किसी भी क्रिया का प्रवेश नही हो सकता है । अतः यह शरीरी शोक करने योग्य है ही नही । यह देह नित्य निरन्तर रहने वाला है ; यह किसी काल नही था और किसी काल में नही रहेगा - ऐसी बात नही है ; यह सब काल मे नित्य-निरन्तर ज्यों का त्यों रहने वाला है । यह देही सम्पूर्ण व्यक्ति , वस्तु , शरीर आदि में एकरूप से विराजमान है । यह देही स्थिरस्वभाववाला है । यह सनातन है , अनादि है , सदा से है ; यह किसी समय नही था , ऐसा सम्भव नही है ।

'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।'[38]

---

[35] (गी.2-17)

[36] (गी. 2/20)

[37] (गी. 2/24)

[38] (गी2/25)

अर्थात् जैसे शरीर-संसार स्थूलरूप से देखने में आता है , वैसे यह शरीरी स्थूलरूप से देखने आने वाला नही है क्योंकि यह स्थूल सृष्टि से रहित है । मन बुद्धि आदि देखने तो नही आते पर चिन्तन में आते ही है अर्थात् ये सभी चिन्तन के विषय है परन्तु यह देही चिन्तन का विषय भी नही है ; क्योंकि यह सूक्ष्म सृष्टि से भी रहित है । यह देही विकार रहित कहा जाता है अर्थात् इसमें कभी किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नही होता ।

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ।। '[39]

वही अग्नि है, वही सूर्य है, वही वायु है , वही चन्द्रमा है , वही शुक्र है , वही ब्रह्म है , वही जल है और वही प्रजापति है।

"यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको, यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।[40]

जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सब सम्यक् प्रकार से लीन होता है और फिर विविधरूप हो जाता है ।

'यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।'[41]

जो देवताओं का स्वामी है , जिसमें सम्पूर्ण लोक आश्रित है और जो इस द्विपद और चतुष्पद प्राणिवर्ग का शासन करता है ।

' यो योनिमधितिष्ठत्येको , विश्वानि रूपाणि योनिश्च सर्वाः।'[42]

जो अकेला ही प्रत्येक स्थान तथा सम्पूर्ण रूप और समस्त योनियों अर्थात् उत्पत्ति स्थानों का अधिष्ठान है ।

' सर्वमेताद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ।'[43]

जो अकेला इस सम्पूर्ण विश्व का नियमन करता है और जो समस्त गुणों को उनके कार्यो में नियुक्त करता है वह परब्रह्म है ।

' न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके, न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।

स कारणं करणाधिपाधिपो, न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।।'[44]

लोक में उसका कोई स्वामी नही है , न कोई शासक या उसका चिन्ह ही है । वह सबका कारण है और इन्द्रियाधिष्ठाता जीव का स्वामी है । उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न स्वामी है ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुश्च।।'[45]

समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है , वह सर्वव्यापक , समस्तभूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता , समस्त प्राणियों में बसा हुआ , सबका साक्षी , सबको चेतनत्व प्रदान करने वाला , शुद्ध और निर्गुण है ।

' स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः, ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः ।

[39] (श्वे.उ. 4/2)

[40] (श्वे.उ. 4/11)

[41] (श्वे.उ. 4/13)

[42] (श्वे.उ. 5/2)

[43] (श्वे.उ. 5/5)

[44] (श्वे.उ. 6/9)

[45] (श्वे.उ. 6/11)

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, सँसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ।।'[46]

वह विश्व का कर्ता, विश्ववेत्ता, आत्मयोनि (स्वयम्भू), ज्ञाता, काल का प्रेरक, अपहतपाप्मत्वादि गुणवान् और सम्पूर्ण विद्याओं का आश्रय है तथा वही प्रधान और पुरूष का अध्यक्ष, गुणों का नियामक एवं संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु है ।

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो, ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।

य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव, नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ।।[47]

वह तन्मय, ज्योतिर्मय, अमरणधर्मा, ईश्वररूप से स्थित , ज्ञाता , सर्वगत और इस भुवन का रक्षक है , जो सर्वदा इस जगत् का शासन करता है ; क्योंकि इसका शासन करने के लिए कोई और समर्थ नही है ।

3. निष्कर्ष

वर्तमान में विज्ञान के अतिशय विकास के फलस्वरूप आज की सभ्यता यंत्रप्रधान हो गई है और मनुष्य उसी सभ्यता के जाल में फंस भी गया है । इसका परिणाम यह हुआ है कि वह अपने को तथा परम सत् को खो बैठा है । पर उसका उद्धार दर्शन से हो सकता है, क्योंकि दर्शन के द्वारा उसे अपने आप का तथा परम सत् का सही बोध हो सकता है ।

परम सत् का कोई वर्णन नही हो सकता, न ही इसके अस्तित्व को सिद्ध या असिद्ध किया जा सकता है । परम सत् को हम ईश्वर कह सकते है, किन्तु वह धार्मिक आस्था का ईश्वर नहीं है ; वह तो सर्वातिक्रमणकारी यानी सर्वाव्यतिरेकि (all transcending universal being) परम सत् है । जो संसार का अतिक्रमण करते हुए भी संसार में व्याप्त है । संसार की वस्तुएँ तथा घटनाएँ उसके प्रतीक है । विभिन्न धर्मों में जो ईश्वर के वर्णन पाये जाते है, वे प्रतीकात्मक है ।

अपनें दैनिक जीवन में हमारे लिए यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि हम जिन वस्तुओं से घिरे है, जिनके बीच रहते है उन सभी को वास्तविक मानें । हम इस विश्वास के आधार पर ही सामान्य जीवन जीते है कि भौतिक वस्तुएँ, शरीरधारी जीव, वस्तुओं के बीच स्थान तथा काल के संबंध आदि सभी वास्तविक है । श्री अरविन्द का कहना है कि इस प्रकार की सभी सामान्य धारणायें 'सत्' के संबंध में प्राथमिक अज्ञात पर आधृत है । हमें उस मूल निरपेक्ष सत् का अज्ञान है जो सभी वास्तविक समझी जाने वाली वस्तुओं के पीछे है । शङ्कराचार्य के अनुसार परम सत् उत्पत्ति से रहित है ।

ऋग्वेद में भी बहुदेवतावाद से एकेश्वरवाद की ओर होते हुए स्पष्ट होता है –

त्वग्ने वरूणोजायसे यत् त्वं मित्रो भवासि यत् समिद्धः ।

तवे विश्वे सहस्रपुत्र देवास्त्वामिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ।।[48]

"जन्म से हे अग्नि! तु वरूण है, समिद्ध होने पर मित्र है । तुझमें हे शक्तिपुत्र! सभी देवता केन्द्रित तू उपासक के लिए इन्द्र है ।"

यही से वैदिक काल में तार्किक युग का प्रारम्भ देखा जाता है, जो ज्ञात प्रयत्न नही मानसिक विकास की एक स्वाभाविक अवस्था थी । वैदिक ऋषियों के मन में अनेक शंकाएँ उत्पन्न हुई – प्रथम उत्पन्न देव को किसने देखा ? आत्मा का उद्गम स्थान क्या है (कोददर्श प्रथमं

[46] (श्वे.उ. 6/16)

[47] (श्वे.उ. 6/17)

[48] (ऋग्वेद 5.3)

जायमानम्[49]) ? फिर बौद्धिक खोज की एक ज्योति ने उन्हें ज्ञान कराया कि 'यथार्थ सत्ता एक है- एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नियमंमातरिश्वानमाहुः'[50] जिसे विप्रवद अग्नि, यम, मातरिश्वान् आदि विविध नामों से अभिहित करते है ।

इस प्रकार वैदिककाल से अनवरत चले आ रहे इस आत्मचिन्तन का यथार्थ स्वरूप जो आत्मतत्त्व है वह पारमार्थिक सत् के रूप में अनादि-अनंत है । उसका कभी अभाव नही होता । इसी की यथार्थ सत्ता है । यही जीवन का सार है जिसके गहन चिन्तन में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर स्वयं ब्रह्मवत् होकर उसी में समाविष्ट हो जाते है ।

[49] ऋग्वेद 1.164.4

[50] ऋग्वेद 1.164.46 ; 10